यह ऋषभेदव भगवान का स्तोत्र अर्थात् भक्ति है। धर्मी जीव को धर्म अर्थात् इस आत्मा का जो ज्ञान और आनन्द इसका स्वभाव है, सवेरे चलता है कि वह शक्ति का भण्डार आत्मा है, अनन्त-अनन्त संख्या से शक्तियाँ (रही हुई है)। अनादि-अनन्त आत्मा में शक्तियाँ रहती हैं, वह तो काल है परन्तु वह आत्मतत्त्व में, वह परमाणु—देह से भिन्न तत्त्व है और उसकी वर्तमान दशा में पुण्य और पाप के भाव शुभाशुभ होते हैं, उनकी कृत्रिमता से, अकृत्रिम चैतन्य निधान, अनन्त गुण की खान ऐसा शक्तिवन्त आत्मा का जिसे श्रद्धा-ज्ञान और भान होता है, उसे धर्मी कहा जाता है। उस धर्मी को धर्मात्मा, परमात्मा के प्रति भक्ति का शुभभाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

शास्त्र में तो ऐसा कहते हैं कि मुक्ति, वह सर्वज्ञ की कृपा का फल है। क्या कहा? मुक्ति, सर्वज्ञ की कृपा का फल है। भगवान एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में जिसका ज्ञाननिधि स्वभाव सत्यरूप से पूर्ण जो अन्तर सत्रूप है, भरपूर है, ऐसी जिसे

विकासदशा जिसकी वर्तमान अवस्था में हो गयी, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा की जो वाणी आयी, उस वाणी का निमित्त और आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव को जाने, इससे मानो भगवान की आज्ञा और कृपा का फल मानो मुझे मुक्ति मिली। कहो, वजुभाई! निमित्त से कुछ होता नहीं, पर से कुछ होता नहीं और फिर यह (ऐसा कहे)। इसका अर्थ यह है कि वास्तव में तो चैतन्य निधान, अनन्त गुण का प्रभु धारक प्रभुत्वशक्ति का पिण्ड आत्मा है। जिसे उसकी दृष्टि, स्थिरता होकर व्यक्तता पूर्णता हुई, एक उस आत्मा को आदर्शरूप से, दर्पणरूप से कि जैसा उनका स्वरूप है, वैसा मेरा है—ऐसा अन्तर में जिसने आत्मा के स्वभाव की शुद्धता की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता द्वारा पूर्णता जिसने प्राप्त की है, ऐसे परमात्मा के प्रति धर्मात्मा को भक्ति हुए बिना नहीं रहती और वह ऐसा ही कहता है, प्रभु! मैं मुक्त हुआ अथवा मुझे आत्मा का भान हुआ, वह आपकी कृपा का फल है। क्योंकि परम्परा से आपको हमारे सब जीवों के ऊपर वात्सल्य वर्तता है। भाई! इसमें है न?

हे नाथ! सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव प्रभु तो वीतराग हैं। अनन्त-अनन्त जिनकी शक्ति का, स्वभाव का सत्त्व है, उसकी व्यक्तता-प्रगटता हुई है। उसे कहते हैं कि प्रभु! आप तो हमारे प्रति वात्सल्य-प्रेम करनेवाले हो। लो! भगवान वात्सल्य करते होंगे? उन्हें अकषाय करुणा है। अकषाय करुणा। पूर्व में विकल्प—राग था कि मैं पूर्ण आत्मस्वभाव को पाऊँ, ऐसा जब विकल्प टूटकर पूर्णता हुई, तब मानों जगत की करुणा के लिये उनकी वाणी बरसती हो, ऐसे भक्त अपनी आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और उल्लास में ऐसा कहते हैं कि प्रभु! यह हम धर्म को प्राप्त हुए, वह आपकी कृपा और करुणा का फल है। समझ में आया? ईश्वरचन्दजी! गजब भाई!

यह अकषाय करुणा अर्थात्? ऐसे जब आत्मा का भान हुआ, पश्चात् विकल्प तो राग रहा, इसलिए पूर्ण होऊँ, ऐसा हुआ और जगत के प्राणी इस आत्मा के इस स्वभाव की निधिरूप चैतन्य चमत्कार भगवान को वे समझें, पहिचानें और प्राप्त करें। इस प्रकार वे भगवान सर्वज्ञ होने से पहले भी उनको ऐसा राग था। राग टलने के पश्चात् भी अकषाय करुणा ऐसी रह गयी है, इस प्रकार आचार्यों ने वीतरागी करुणा को, आप प्रभु हमारे ऊपर प्रेम धारण करते हो, (ऐसा कहा है)। प्रेम तो स्वयं करता है वहाँ। समझ में आया?

महाप्रभु... महाप्रभु। महाप्रभु अर्थात्? कि जिसकी शक्ति में तो प्रभुता पूर्ण थी, सबको है, परन्तु जिसकी दशा में महाप्रभुता प्रगट हो गयी। उसे कहते हैं, प्रभु! आपकी कृपा से हमें यह धर्म समझ में आता है, हों! ईश्वरचन्दजी! कृपा कैसी यह? दूसरे ईश्वर जैसे दूसरे का कुछ करते होंगे? स्वयं का प्रेम है न, भगवान के प्रति? आहाहा! हे नाथ! आपकी यह निधि आपको प्रगट हुई! और हम तो आपके दासानुदास सेवक हैं। आपके चरणरज सेवक हैं। प्रभु! हमें तो ऐसा लगता है कि हमारे प्रति आपको वात्सल्य—प्रेम वर्तता है। समझ में आया? ऐसा भाव सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव और सिद्ध भगवान को जो जाने, पहिचाने, उसे ऐसे परमात्मा के प्रति उल्लास, भक्ति, पूजा, वन्दन, स्तुति, स्तवन, स्मरण—ऐसा भाव शुभ आये बिना नहीं रहता। है वह शुभराग, पुण्यबन्धन का कारण, परन्तु पूर्णता की प्राप्ति अपने को न हो, तब वह भाव—भक्ति का उल्लास आता है।

अरे! तुझे भगवान की भक्ति उल्लसित नहीं होती? कहते हैं न? नियमसार। पद्मप्रभमलधारी मुनि। अरे! तुझे भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ (के प्रति भक्ति नहीं आती)? इसका अर्थ यह है कि ऐसे राग-द्वेष, निमित्त और अल्पज्ञ की रुचि टूटकर, यह आत्मा स्वभाव की मूर्ति है, ऐसी प्रतीति और सम्यग्दर्शन यदि तुझे हुआ और भान (होकर) यदि आत्मा की भक्ति तुझे हुई तो तुझे भगवान की भक्ति आये बिना नहीं रहेगी; और तुझे भगवान की भक्ति न आवे तो संसार के महा मगरमच्छ के मुख में तू पड़ा है। भव समुद्र में चौरासी के अवतार में (तू पड़ा है)। जिन्होंने भव तोड़े, भगवान ने तोड़े और भव तोड़ने की बातें कीं। जिसने भव अर्थात् राग और द्वेष तथा राग-द्वेष, पुण्य-पाप मेरे हैं—ऐसा जो अज्ञान, वह अज्ञान और राग-द्वेष टालकर जिसने ज्ञान और वीतरागता प्रगट की, ऐसे परमात्मा की यदि भक्ति तुझे न हो। उन्होंने तो भव टाले हैं और भव टालने की बात करुणा से अकषाय हृदय से कर रहे हैं, तो ऐसे भगवान के प्रति तुझे यदि प्रेम न आवे और उनकी अपेक्षा, स्त्री, पुत्र, शरीर, परिवार, लक्ष्मी, इज्जत के प्रति प्रेम अधिकरूप से वहाँ लुट जाए तो कहते हैं कि महामूढ़ है। संसार के समुद्र के मध्य महा मगरमच्छ के मुख में पड़ा है।

मगरमच्छ का स्वभाव देखा है? सुना है? वह पैर पकड़े उसे छोड़ता नहीं। वह पकड़ना जानता है। छोड़ना नहीं जानता मगरमच्छ। भाई! उसका स्वभाव है। समझ में

आया? मगरमच्छ किसी भी बालक को, उसको पड़ा हो और पकड़ा पैर, पश्चात् समाप्त। यह तो समुद्र में मध्य में खींचकर ले जाकर ही रहेगा। मध्य में ले जाकर फिर खायेगा। उसे पकड़ना आता है। छोड़ना नहीं आता। उसी प्रकार अनादि का अज्ञानी, यह स्वभाव चैतन्य ज्योति ज्ञाता-दृष्टा है। जगत का साक्षी दीपक है, ऐसी यदि तुझे रुचि हो तो सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्ति का राग आये बिना रहे नहीं। नहीं तो मगरमच्छ ने पकड़ा, अज्ञान से पकड़ा गया है। यह पकड़ा गया, सो पकड़ा गया। अज्ञानभाव में छूटने का स्वभाव नहीं है। वे मगरमच्छ पैर पकड़ते हैं, छोड़ना नहीं आता। अज्ञानी ऐसे पकड़ रखता है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति का राग होता है न, वह राग है, (उसे) पकड़ना आता है अज्ञान में, छोड़ना नहीं आता। समझ में आया?

यहाँ मुनि हैं। जंगल में बसनेवाले छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले पद्मनन्दि आचार्य हैं। हजार वर्ष पहले जंगल में उन्होंने भगवान की स्तुति की है। मानो ऋषभदेव भगवान सामने विराजमान हों और मानो भक्त कन्धा पकड़कर (कहता है), खड़े रहो प्रभु! ओहोहो! 'समन्तभद्र' में यह आता है। यहाँ ऋषभदेव की स्तुति जंगल में रची है। धर्मी को धर्म कर्तव्य आत्मा का भान हुआ, उसमें उसे ऐसी भक्ति का भाव होता है, यह बतलाने के लिये यह स्तुति और भक्ति का वर्णन किया गया है।

'**जय**' पहला शब्द पड़ा है। पहला श्लोक।

गाथा १

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलएक्कदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह।।१।।

अर्थ :- श्रीमान् नाभिराजा के पुत्र; ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकरूपी घर के लिये दीपक तथा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले, हे ऋषभदेव भगवान! आप सदा इस लोक में जयवन्त रहो। समस्त जीवों पर वात्सल्य को धारण करनेवाले और निर्मल गुणोंरूपी रत्नों के आकर (खजाना) - ऐसे हे नाथ! आप सदा इस लोक में जयवन्त रहो।

श्लोक - १ पर प्रवचन

श्रीमान्! नाभिराजा के पुत्र... अब नाम से पहिचान कराते हैं। पहले कुल से पहिचान कराते हैं। फिर उनकी जाति से (पहिचान करायेंगे)। प्रभु! यह अनादिमुक्त नहीं थे, ऐसा बतलाना है। प्रभु का आत्मा या कोई आत्मा, तीर्थंकर हुए, वे अनादिमुक्त नहीं थे, वे पूर्व में आत्मज्ञान पाने के पश्चात् तीर्थंकरगोत्र बाँधा और फिर किसी कुल में उनका जन्म हुआ है। ऐसे परमात्मा के माता-पिता से उन्हें बतलाते हैं। वे कोई परमात्मा (अनादि से मुक्त नहीं हैं)। कितने ही कहते हैं कि अनादि मुक्त हैं। नहीं, ऐसे-ऐसे तीर्थंकर को तीर्थंकर नहीं कहा जाता।

तीर्थंकर और जो जगत के तीर्थ के प्रवर्तन करनेवाले कोई कुल में जन्मते हैं। शरीररूप से। निश्चय से तो अपनी पर्याय में जन्मते हैं। परन्तु बाहर यह बतलाते हैं कि यह जो तीर्थंकर की स्तुति करता हूँ, वह अनादि का यह आत्मा है, परन्तु इसकी दशा अनादि की नहीं थी। जब सर्वज्ञपद की दशा हुई, उस काल में उनके माता-पिता कौन थे, यह बताकर भगवान की स्तुति करते हैं।

श्रीमान्! नाभिराजा के पुत्र... भगवान तो पुत्र होते नहीं। कहो, समझ में आया? पहिचान कराते हैं कि ऋषभदेव का आत्मा कुछ राग बाकी रह गया था, पुण्यबन्धन हुआ था तो वे नाभिराजा के कुल में अवतरित हुए। अर्थात् नाभि राजा की पत्नी ऐसी मरुदेवी माता के गर्भ में (अवतरित हुए)। ऐसा कहकर उनका अस्तित्व कहाँ था, कहाँ से आये, उनके माता-पिता वे हैं, अध्धर से (खत) लिखनेवाला नहीं है। समझ में आया? वे तीर्थंकर नाभि राजा के पुत्र—एक बात कही। अब यह तो निमित्त से पिता की बात से उन्हें बतलाया है।

अब प्रवचनसार में पहले चला है कि मैं भक्ति करनेवाला, वन्दन करनेवाला कौन? और किसे वन्दन करता हूँ? पहले आता है न? मैं, कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं भगवान को वन्दन करता हूँ। मैं कौन और जिन्हें वन्दन करता हूँ, वे कौन, दोनों का मुझे भान है। समझ में आया? यह भगवान को वास्तविक वन्दन और स्तुति तथा भक्ति

कर सकता है। ऐसे का ऐसा अन्धी दौड़ से अनादि काल से कौन अरिहन्त है, (उनका स्वरूप पहिचाने बिना) णमो अरिहंताणं (करता है)। कहाँ गये केवलचन्दभाई! समझ में आया? वहाँ साथ में बैठे हैं। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं। किसे खबर कि अरिहन्त कैसे होंगे। वे तो एक वहाँ भगवान है। तीन काल का जानते हैं, ऐसे हैं। परन्तु क्या है? तीन काल का जाने, ऐसी शक्ति क्या, उसकी प्रगट दशा क्या और तू उसे वन्दन करनेवाला किस स्थिति में खड़ा है और किस स्थिति में वन्दन जिसे करता है, उसकी क्या स्थिति है? उसके वास्तविक ज्ञान बिना इसकी श्रद्धा भी सच्ची नहीं और इसकी भगवान के प्रति भक्ति भी सच्ची नहीं। कहो, समझ में आया? इसलिए पहली बात (करते हुए) उनके पिता के नाम से पहिचान करायी। अभी अवतार में यहाँ आये हैं, तब सर्वज्ञ होकर नहीं आये हैं, परन्तु इस भव में सर्वज्ञ होनेवाले हैं।

तथा ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोकरूपी घर के दीपक... हैं। कैसे हैं प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा? कुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहा, मैं वन्दन करनेवाला कौन? प्रभु! वन्दन करनेवाला मैं आत्मा। मैं ज्ञान-दर्शनस्वभाव से भरपूर, वह मैं। पुण्य-पाप का राग उठे, वह मैं नहीं। मैं एक ज्ञान-दर्शन के स्वभाव से भरपूर पदार्थ, वह मैं। आप कैसे हो? तीन काल-तीन लोक को जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण जाना है। ऐसे सर्वज्ञपद को मैं यह नमस्कार करता हूँ। कहो, समझ में आया इसमें कुछ? कहते हैं, तीन लोक के दीपक हो। यह तो तीन लोक के दीपक हैं। सर्वज्ञपद अन्दर प्रगट हुआ, तीन लोक को बतलानेवाला दीपक है। ऊर्ध्वलोक में क्या, मध्यलोक में क्या और अधोलोक में क्या, इस तीन लोक के दीपक। यहाँ तो तीन की बात की। लोकालोक के दीपक हैं।

चैतन्य दीपक प्रभु आपको ऐसा प्रगट हुआ है, ऐसा उजाला प्रगट हुआ है। प्रगट हुआ है का अर्थ? कि आपके अन्दर ज्ञानकली जो अन्दर थी, ज्ञानकली-स्वभाव, उसमें एकाग्र होकर जो केवलज्ञान खिला है, केवलज्ञान खिला है। देखो! यह भान कहाँ से हुआ? कहाँ से आया? ऐसे भानसहित भगवान को वन्दन करते हैं। आहाहा! कौन जाने अन्ध दौड़ से... भगवानजीभाई! रुपये दो कि भाई! मन्दिर बनाओ... पश्चात? वे भगवान कौन हैं परन्तु अन्दर जिन्हें तू विराजमान करता है? तू उन्हें पधराता है, किस प्रकार है?

और उनके मूल भाव निक्षेप स्वरूप हैं, वे क्या हैं ? खबर नहीं होती। भाव क्या, भगवान जाने। भावनिक्षेप क्या, सब यह भगवान। यह भगवान माने तिरा (देंगे), मूर्ति तिरा देगी और मूर्ति तुझे कल्याण कर देगी।

भाई! यह तो शुभराग आवे, तब उसे निक्षेप व्यवहार लागू पड़ता है। परन्तु किसे ? जिसे उसके सर्वज्ञपद के प्राप्त की प्रभुता की जिसे खबर है। प्रभु! आप तो तीन लोक के दीपक हो। कर्ता नहीं। इसलिए ऐसा सिद्ध किया। कोई ऐसा कहे कि भगवान इस जगत के कर्ता हैं या कुछ देते हैं या कुछ देते हैं अथवा कुछ लेते हैं। ऐसे प्रभु नहीं हो सकते। उन्हें प्रभु नहीं कहा जा सकता। वे तो तीन लोक के प्रकाशक हैं— जाननेवाले हैं। क्या है मैं और क्या है वे, इसका सर्वज्ञपद में ज्ञान हुआ है। ऐसा पद जिसे दृष्टि में, श्रद्धा-ज्ञान में आया है, वह सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करता है। कहो, समझ में आया ? ईश्वरचन्दजी! यह ईश्वर को बतलाते हैं।

ऊर्ध्वलोक-मध्यलोक-अधोलोकरूपी जो घर... वापस यह घर। जगत का घर होता है न। घर में एक दीपक हो तो ऐसे प्रकाश दे। यह तीन लोक का दीपक। तीन लोक का घर। उसमें एक दीपक, प्रभु! पूरा चैतन्य केवलज्ञान प्रकाशित हुआ है, उन सर्वज्ञ की हमें प्रतीति हुई है। आप सर्वज्ञ हो, ऐसा हमें भरोसा आया है। क्यों ?—कि वह सर्वज्ञपद आपने अन्तर के स्वभाव में से विकसित कर प्रगट किया है। हम भी हमारे चैतन्य के एक समय के सामर्थ्य के स्वभाव की प्रतीति, रुचि हमने की है। और हमने सर्वज्ञपद को शक्तिरूप से प्रतीति की है। आपको व्यक्तरूप से प्रगट हुआ है। हे प्रभु! आप तो तीन लोक के दीपक हो। इसका अर्थ किया, यह मैं भी तीन लोक का जाननेवाला और देखनेवाला हूँ। समझ में आया ? पूर्णचन्दजी! क्या है ?

यह तो कहे, लो! भगवान की पूजा-भक्ति ... अपने इतनी सब चर्चाएँ और तत्त्व की बात और उपादान से काम होता है, निश्चय से काम होता है, व्यवहार तो राग आवे, वह बन्ध का कारण है। ऐसी चर्चाएँ अपने परम्परा—माँ-बाप को खबर नहीं थी। अपने माँ—बाप और सब... केवलचन्दभाई! तुम्हारे पिता को यह खबर थी ? इन सब बातों की ? कुछ सुना नहीं था वहाँ। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया। भाई! तुम्हारे पिता को ऐसी कुछ खबर नहीं थी। उपादान क्या और निमित्त क्या और निश्चय क्या तथा व्यवहार

क्या ? तब वे सब पूजा-भक्ति करते, उन्हें धर्म होता होगा या नहीं ? भगवानजीभाई ! यह प्रश्न किया। अरे ! भगवान !

ऐसा कि ऐसी सब चर्चाएँ जो तत्त्व की अभी चलती हैं। उस तत्त्व की चर्चा की तो गन्ध भी नहीं थी अपने माता-पिता और कुटुम्ब के पास। तो वे लोग पूजा-भक्ति करते थे तो धर्म है या नहीं ? कहे, हाँ। वह कहे धर्म है। क्यों ? भगवान को मानते हैं न, भगवान की पूजा करते हैं। अरे ! मानता नहीं, सुन न अब। हमारे पिता पूजा-भक्ति करते थे और ऐसे यात्रा निकालते थे और दो-दो लाख—पाँच लाख खर्च करते थे। उन लोगों को कुछ धर्म होता होगा या नहीं ? ऐ कुँवरचन्दजी ! एक बार प्रश्न किया था। फिर एक पण्डित ने उन्हें जवाब दिया। उन्हें भी धर्म होगा। भगवान को मानते थे न, यह भगवान है। और पूजा में भाव होता था न। भाव है न, वह भाव, इसलिए उन्हें धर्म होता था। अरे ! भगवान ! उस धर्म की खबर भी नहीं, वहाँ धर्म कहाँ से होता था ? धूल में ? वहाँ मन्दिर में जाकर टोकरा बजावे या यह करे या पूजा करे। धर्म कहाँ था ? धर्म...

ऐसा कहते हैं, प्रभु ! आप तीन लोक के दीपक हो। देखो ! यह गुण से वर्णन (करते हैं)। पहले पिता से वर्णन किया था। साथ का साथ डालते हैं, प्रभु ! आप तीन लोक के दीपक हो। अर्थात् ? तीन काल में जितने पदार्थ हैं, उन सबके आप तो जाननेवाले-देखनेवाले हो। जानने-देखने के अतिरिक्त आपने किसी का कुछ किया नहीं। वापस कहेंगे वात्सल्य अभी, हों ! वापस। देखो ! यह पहचान सर्वज्ञ और उनके साथ आत्मा की पहचान। यह पहचानवाला भगवान को ऐसे खड़े रखकर (कहता है), भगवान ! खड़े रहो, हम भी खड़े हैं। वजुभाई ! हमारा आत्मा ज्ञान निधि चैतन्यस्वरूप है। हम तो ज्ञाता-दृष्टा हैं। यह भक्ति का राग आवे, उसका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, परन्तु आता है। आता है तो भी वह राग धर्म नहीं है और वह आये बिना रहता नहीं है। उपकारी के उपकार के लिये यह भाव आये बिना नहीं रहता। तथापि हम कहते हैं कि प्रभु ! आपने तो पूर्ण प्रगट किया, वह तो तीन लोक के दीपक तीन लोक लोक को प्रकाशित किया है। तीन लोक में से कोई परमाणु, किसी जीव को आपने बनाया (नहीं)। बनाया है ? स्तुति में-पूजा में आता है। प्रभु ! इस जगत के ईश तो उसे कहा जाए कि कुछेक जीव बनावे

जगत के। और यह तुमने प्रगट होने के बाद तो जगत के जीवों का संहार होकर मुक्ति में जाते हैं। तुम तो घटा देते हो। क्या कहा? भगवानजीभाई! क्या कहा?

जगदीश किसे कहा जाता है? जगदीश किसे कहा जाता है? कि जगत के जीवों को बनावे, रचे, वृद्धि करे। प्रभु! आप जगदीश यह किस प्रकार के? तीन काल का ज्ञान आपने किया और आपने जो वाणी समझायी, उससे जगत के जीवों की संख्या घट गयी और मुक्ति को पाते हैं। तब वे लोग कहें, जगत के ईश उसे कहा जाता है कि जगत में जीव घटें तो उन्हें बनावे नया। कहते हैं, नहीं, नहीं। वह जगत का ईश नहीं कहलाता।

जगत का ईश तो उसे कहते हैं कि जिसके ज्ञान में स्वपरप्रकाशक तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए, ऐसा जिसने उपदेश किया कि तू आत्मा भी चिदानन्दस्वरूप है। तू ज्ञानमूर्ति प्रभु है। यह राग-विकल्प आवे, वह तेरा स्वरूप नहीं है। हम पूर्ण हुए, तब प्रकाशित करनेवाले हैं, तो अपूर्ण में भी प्रकाशक शक्ति के भान बिना हमारे पूर्ण प्रकाश की प्रतीति और भक्ति तुझे सच्ची नहीं हो सकती। मोहनभाई! बराबर होगा? वह कहे कि हाँ, उसमें धर्म होगा। अरे! भान भी कहाँ था, धर्म धूल भी नहीं होगा वहाँ। ऐसा कहते हैं। प्रभु! तीन लोक के दीपक। जहाँ हो, वहाँ आप तो प्रकाशित कर रहे हो। कोई अधो में नारकी को बनाया, ऊर्ध्व में स्वर्ग को बनाया, मध्य में मनुष्य को और तिर्यंच को बनाया या उन्हें सहायता की और उनके लिये अवतार धारण किया, ऐसा भगवान नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

भगवान परमात्मा तीन लोक के दीपक और **धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले... 'तित्थयर'** है न? **'तित्थयर'** आप तो धर्म की प्रवृत्ति करनेवाले। ओहोहो! धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति। निमित्तरूप से। ऐसा सर्वज्ञपद प्रभु! आपको प्रगट हुआ है न! वह वाणी निकलकर। वह आपने तो परपदार्थ के कर्ता-हर्ता रहित आत्मा को खोला और प्रकाशित किया, ऐसा आपने कहा। आत्मा किसी चीज़ का अनादि-अनन्त कोई पदार्थ, उसकी किसी दशा का आत्मा कर्ता-हर्ता है नहीं। ऐसा आपने तीन लोक के प्रकाशितरूप से प्रकाश किया और जगत को यह कहा, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति। अर्थात् ज्ञाता चिदानन्द ज्ञानमूर्ति है। उसे जानना-देखना, वही तुम्हारा स्वरूप है। अपूर्ण दशा हो तो भक्ति का भाव आदि नमस्कार, स्मरण, जाप आये बिना नहीं रहता। परन्तु वह पुण्यबन्ध का

कारण है। ओहोहो! देखो न! अभी यह चलता है न बहुत? वर्षीतप और जप और तप सब मानो धर्म है। धूल में भी धर्म नहीं। अज्ञानी ने उसमें धर्म मनवाया और मान रहे हैं। समझ में आया? कैसे होगा इसमें? भगवानजीभाई! यह सब सूखते होंगे मुफ्त के?

अरे! प्रभु! भाई! अनन्त काल की चीज़... यहाँ तो तीन लोक के दीपक को ऐसी प्रवृत्ति बतायी। क्या बतायी? सर्वज्ञपद मेरा है और सर्वज्ञरूप से प्रगट हुए हैं, तुम सर्वज्ञरूप से प्रगट होओ। इसका अर्थ कि तुम्हारे ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि और रुचि करो। यह धर्म की प्रवृत्ति के करानेवाले भगवान निमित्तरूप से कहने में आते हैं। समझ में आया? गजब बात, भाई! ऐसे झगड़े और तूफान! बापू! ऐसा काल मिला, यह जीभ नहीं मिलेगी, कान नहीं मिलेंगे, तब क्या करेगा? और अभी कान तथा जीभ है तो उनसे क्या करेगा? समझ में आया? यह तू नय से तेरे ज्ञान को जान। यह वस्तु त्रिकाल शुद्ध चैतन्य एकस्वरूप है, वह तो प्रकाश दीपक जगत का है। भले मेरी दशा में राग हो परन्तु वह राग पुण्य, दया, दान या जप, तप का विकल्प-राग उठे, वह मेरा मूलस्वरूप नहीं है। मैं भी सर्वज्ञ की तरह, अल्पज्ञ पर्याय में भी मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा भान हुए को भगवान की भक्ति कर रहा है। समझ में आया? नेमिदासभाई! क्या होगा यह? लाख-दो लाख के मन्दिर करे, वहाँ ऐसा हो जाए कि अपने (धर्म किया)। किया है इन्होंने?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ किया नहीं। राग मन्द किया हो तो पुण्य होगा। वह तो उसके काल में वह संयोग बननेवाला ही था। भगवानजीभाई! अब भगवानजीभाई का नम्बर आया। पहले नानालालभाई का था, फिर नेमिदासभाई का, अब भगवानजीभाई का। कहो, समझ में आया? पहले हुआ है न राजकोट, २००६ के वर्ष में। फिर २०१० में हुई। .....

धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति... यह ञया कहा? कि आप ज्ञानरूपी धर्म आत्मा का, जानना-देखना ऐसा जो स्वभाव, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूपी धर्म की प्रवृत्ति करनेवाले, वह तिरने का उपाय है, ऐसा आपने जगत को समझाया है। समझ में आया? ऐसे **हे ऋषभदेव भगवान!** ऐसे **हे ऋषभदेव भगवान! 'उसह'** आया न पहला? मूल तो ऐसे पिता से और पवित्रता से पहचान करायी है। नहीं तो यह नाम है न, इसमें ही

ऋषभति इति ऋषति इति गच्छति इति परमपद। अपने पवित्र पूर्ण पद के प्रति जिसकी गति बहती है और प्रगट दशा हो गयी है, उन सब आत्माओं को ऋषभदेव कहा जाता है। ऋषति गच्छति परमपद। अपना निजानन्द पूर्ण स्वरूप, जो अल्पज्ञ और राग-द्वेष तथा निमित्त से रहित है, उसके पद में घुसकर, रहकर, टिककर, रुककर जिन्होंने पूर्ण दशा प्रगट की, ऐसे परमात्मा को ऋषभ से पहचाना जाता है।

हे ऋषभदेव भगवान! आप लोक में सदा जयवन्त रहो। प्रभु! इस लोक में आप सदा जयवन्त रहो। ऐसा कहकर धर्मी जीव ने भक्ति में क्या कहा? कि आप सर्वज्ञपद जो पूर्ण आनन्द, अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य प्रगट हुआ है न, वह जयवन्त रहो। वह ऐसा का ऐसा टिका रहो। साध्यदशा जो पूर्ण प्रगट हुई, (वह) ऐसी की ऐसी रहो। ऐसी की ऐसी रहो। इसका अर्थ कि उस साध्य को हम श्रद्धा करनेवाले, हमारे स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले, हमारी साधकदशा भी जयवन्त रहो। वजुभाई! अर्थात् कि हमें राग होओ और राग जयवन्त रहो, हमें राग आओ, वह टिका रहो, ऐसा धर्मी के श्रद्धा और ज्ञान में नहीं होता। समझ में आया?

भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ आपको जो पूर्ण दशा प्रगट हुई, प्रभु! जयवन्त रहो। वह ऐसा टिका रहो साध्यस्वभाव और उस साध्य को अनुमोदन करनेवाले हम हमारे ज्ञान और आनन्द हमारी चीज़ है, उसे हम श्रद्धा-ज्ञान में लेनेवाले, हमारी दशा भी इस प्रकार से ही साधकरूप से जयवन्त रहो और साध्य की पूर्ण दशा हमें भी होओ। कहो, समझ में आया इसमें?

देखो न! मुनि हैं, भावलिंगी सन्त हैं। जिनकी दशा नग्न है—दिगम्बरदशा। जंगल में बसनेवाले। जैनदर्शन में भावलिंगी सन्त अर्थात् वास्तविक तत्त्व की दृष्टि में तो जिन्हें ऐसे भाव अन्तर्दृष्टि का भान हुआ और फिर चारित्र की रमणता जहाँ प्रगट हुई, उनकी सहजदशा नग्न (हो जाती है)। इतनी उदासीनता-वीतरागता हो जाती है कि उन्हें सहज दिगम्बरदशा होकर वनवास में ही बसते हैं। इतनी परमात्मा के अन्तर स्वरूप के साथ सावधानी हो। कहो, समझ में आया?

बड़ा आड़तिया हो और पैसा बहुत देता हो और मदद करता हो, उसे सब प्रकार से पहचानता हो। उसका घर, उसके लड़के, उसकी लड़कियाँ सबको पहचाने या

नहीं ? केवलचन्दभाई ! सबको पहचाने। हमारा बड़ा आड़तिया। भाई ! उसके पास पाँच करोड़ रुपये हैं और इतनी आमदनी है और इतना यह ऐसा है और उसके पुत्र यहाँ रहे हैं और उसका यहाँ है। सब पहचान होती है, लो ! क्योंकि भाई ! हमारा अन्नदाता है। ऐसा कहते हैं या नहीं। हमारा अन्नदाता है। अन्नदाता तो कोई धूल भी नहीं है।

यहाँ धर्मात्मा एक समय में सर्वज्ञ हमारे आड़तिया यह हमको अन्नदाता हमारे चैतन्य के प्राण को पुष्टि प्रदाता, निमित्तरूप से व्यवहार से ऐसा कहा जाता है न ? यह तो बात चलती है यहाँ। वात्सल्य लेंगे अभी यह। **हे भगवान ! आप तीन लोक में सदा जयवन्त रहो।** आप तो इस लोक में जयवन्त रहो। ओहोहो ! अन्तर स्वरूप में... यह शरीर, वाणी, मन टिको या न टिको, वह कुछ हमारे अधिकार की बात नहीं है। वे हमारे अवयव ही नहीं हैं। क्या ? धर्मी ऐसा समझता है, मानता है कि वे हमारे अवयव ही नहीं हैं। हमारे अवयव तो एक समय में अनन्त गुण जो अन्दर पड़े हैं, वे हमारे अवयव हैं। अवयव समझ में आता है ? यह शरीर अवयवी कहलाता है न पूरा ? पूरा। और यह इसके अवयव हाथ-पैर। नहीं, अपने शरीर भी नहीं और इसके अवयव भी नहीं।

धर्मी सम्यग्दृष्टि की वीतराग परमात्मा के शासन में जिसे धर्मदशा श्रद्धारूप से प्रगटी है, ज्ञान में ज्ञात हुआ है और रमणता उसकी यथाशक्ति प्रमाण हुई है, वह ऐसा जानता है कि यह शरीर आदि अवयव हमारे नहीं हैं। भगवान को कहाँ वे अवयव हैं ? भगवान को तो यहाँ कहेंगे, वात्सल्य और अनन्त गुण के निधान हो। आपको शरीर-बरीर नहीं। वैसे ही धर्मी जीव अपनी श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा लेता है कि यह अवयव तो जड़ के हैं न, हम तो अवयवी आत्मा और उसके अवयव अर्थात् भाग अर्थात् अंश, वे हमारे अनन्त गुण हैं। और बहुत गिनो क्षेत्र से तो हमारे असंख्य प्रदेश हैं। प्रदेश असंख्य। एक परमाणु जितनी जगह रोके, उतने भाग को प्रदेश कहा जाता है। उन प्रदेशों में अनन्त गुण पड़े हैं, तो प्रदेश हमारा अवयव और गुण हमारा अवयव। उनका धारक ऐसे हम अवयवी हैं।

प्रभु ! आप ऐसे हो। किस प्रकार कहते हैं यह ? **समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करनेवाले...** फिर वह बोल लेंगे। प्रभु ! हमारे प्रति तो आपको प्रेम वर्तता है, हों ! ले ! वात्सल्य। वे कहते हैं न एक, नहीं ? वे कैसे ? धर्म। माणेकचन्दजी। भगवान

को सबके प्रति वात्सल्य वर्तता है। परन्तु वह कौन सा वात्सल्य? भाई! वह नि:शंक, नि:कांक्ष, वात्सल्य (आदि) आठ गुण समकित के हैं, उनका व्यवहार जो वात्सल्य है, वह नहीं। क्या कहा? धर्मी जीव को आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति-रुचि का भान हुआ, यह पहली धर्म की दशा। उसमें वे आठ गुण व्यवहार से होते हैं। निश्चय से स्वभाव में, व्यवहार से वात्सल्य भगवान के प्रति, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति, साधर्मी के प्रति (होता है)। जैसे बछड़े के प्रति गाय को, बछड़ी या बछड़े के प्रति गाय को प्रेम होता है, वैसे धर्मी को शुभराग में साधर्मीजनों के प्रति प्रेम होता है, वात्सल्य होता है और अन्तर में चैतन्य निधान पड़ा है, उसके प्रति निर्विकल्प वात्सल्य होता है। समझ में आया? भगवान को निर्विकल्प वात्सल्य वर्तता है। उन्हें राग नहीं है।

यह कहते हैं कि प्रभु! हमको तो वात्सल्य रागरूप से विकल्प आता है। और अन्तर वात्सल्य हमारा निर्मल आनन्दस्वभाव का हमको वात्सल्यपना, प्रेमपना, प्रीतिपना वर्तता है। वह तो यहाँ निर्जरा अधिकार में नहीं आया? प्रीति-रुचि। आत्मा में प्रीति कर, रुचि कर, सन्तोष कर और उसमें एकाकार होकर तृप्ति पा। निर्जरा अधिकार में आया? वह निर्जरा है। लोग कहते हैं न कि यह अपवास किये, यह किया और निर्जरा (हो गयी)। अरे! धूल में भी निर्जरा नहीं है, सुन न अब। मर गया ऐसा अनन्त काल करके। तुझे बनानेवाले, मनानेवाले भी ऐसे मिले। झुकानेवाले मिले, जहाँ-तहाँ झुक गया। मन्दिर बनाये और धर्म हो गया। अपवास किये और धर्म हो गया। यह सामायिक, प्रौषध इसने माने हुए किये (और धर्म हो गया)। धूल में भी धर्म नहीं है। तू अभी सामायिक प्रौषध कहाँ से लाया? आत्मा अकेला समता का पिण्ड चिदानन्द ज्ञातादृष्टा एक रजकण को हिलावे, रखे-छोड़े नहीं। एक राग के तीर्थंकरगोत्र के भाव को भी बाँधे और छोड़े नहीं। ऐसा आत्मा ज्ञाता के श्रद्धा-ज्ञान के भान बिना उसे कोई भी तप नहीं हो सकता।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! **आप सकल जीवों पर वात्सल्य धारण करते हो...** बस! अभव्य के ऊपर भी? हे प्रभु! मेरे प्रति आपको वात्सल्य है न? आपके केवलज्ञान की जो दशा, उसमें आपके पूर्ण ज्ञान में वर्तमान मैं आपका भक्त हूँ, ऐसा भासित हुआ है। स्वभाव का भक्त और राग से भक्त व्यवहार से, ऐसा आपके ज्ञान में भासित हुआ, वह आपका ही मेरे प्रति वात्सल्य है। वजुभाई! समझ में आया?

एक बार वीरजीभाई ने एक मुसलमान की बात नहीं की थी ? एक बड़ा मुसलमान था भाई करोड़पति। लालपर या ऐसे में। करोड़पति मुसलमान। फिर उसका पुरानी का एक लड़का। पुरानी स्त्री मर गयी। उसका लड़का (था)। नयी से विवाह किया। नयी को लड़के छोटे-छोटे। फिर इससे कहे अलग हो अब। ऐई ! नेमिदासभाई ! देखो ! लड़का होवे तो चैन नहीं और न होवे तो भी चैन नहीं। उसकी बात यहाँ है नहीं कुछ। उस पुराने लड़के को कहे, तू अलग हो। करोड़ रुपये और कितनी पूँजी, कितनी आमदनी और कितने मकान लाखों के। तब कहे, देख भाई ! तुझे आठ हजार रुपये दूँगा और यह एक मकान दूसरा छोटा साधारण दो-पाँच हजार का। लड़का कहता है, बापू ! आपका मेरे प्रति प्रेम है न, वह बस है। मेरे पास बहुत पैसे हैं। आठ हजार। वह करोड़पति, उसका लड़का। केवलचन्दभाई ! कहते हैं, बापू ! मेरे प्रति आपका प्रेम है न, इतना बस है। आठ हजार से सन्तोष है। लाओ मैं हस्ताक्षर कर दूँ। छोटा मकान पाँच हजार का दिया। लाओ हस्ताक्षर कर दूँ। मेरा हक अब आपमें कुछ नहीं है। हस्ताक्षर कर दिये। उसमें उसका पिता मर गया। उसकी नयी माँ, लड़के छोटे। उन्होंने बुलाया। यह ट्रस्ट को सौंपेंगे तो खा जाएँगे। करोड़ रुपये। उसे बुलाया, भाई ! यह खत लिखा है न, उसे फाड़ डाल। तब (ञ्चया अब) ? यह है न वह सब तेरा ही है। अब ये तीन तेरे भाई हैं, उन्हें हिस्सा देना हो तो देना। ...चन्दभाई ! परन्तु वे दूसरे खा जाएँगे। किन्तु तू मेरा पुत्र है न, मेरे पति का पुत्र है और मेरा पुत्र है। वह खत फाड़ डाल। यह रुपये करोड़, यह व्यापार, यह दुकानें सब। तेरे हाथ, तुझे करना हो (वह कर)। तुझे चार हिस्से करना हो तो करना और जैसे करना हो, वैसे करना। परन्तु बापू ! ...

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! सर्वज्ञ परमात्मा की मेरी वर्तमान दशा में, यह आपके केवलज्ञान में मेरे प्रति वात्सल्य भासित होता है तो आपके ज्ञान में मुझे सर्वज्ञ के प्रति प्रेम वर्त रहा है। आपको मेरे प्रति प्रेम है, ऐसा मैं कहता हूँ। मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। कहो, समझ में आया ? आहाहा ! वाह रे भगत ! देखो तो सही ! ऐसे करना, यह करना और सिरपच्ची और अन्दर कुछ विवेक की खबर नहीं। ऐसा नहीं होता, प्रभु ! धर्म कोई दूसरी चीज़ है, भाई ! यह भक्ति दूसरी चीज़ है, धर्म भी कोई दूसरी चीज़ है, इसकी खबर बिना अकेले सिरपच्ची करे। बापू ! यह जन्म-मरण के अन्त इसमें नहीं आयेंगे। दुनिया

तो मनवा लेगी। दुनिया तो पागल और पागल गाँव-गाँव में भरे हैं। केवलचन्दभाई! गाँव-गाँव में पागल।

हे प्रभु! आहाहा! मुनि को अन्दर में उछलता है। भगवान तो कितने अरबों वर्ष पहले हो गये। एक कोड़ाकोड़ी सागर। ऐसा कहते हैं कि हे भगवान! आप तो सकल जीवों के प्रति वात्सल्य धारक। सकल जीवों के प्रति, सब जीवों के प्रति। सबके प्रति आपको वीतरागता वर्तती है, ऐसे हमारे आत्मा में भी प्रभु! सब आत्मा के प्रति (समदृष्टि वर्तती है)। ओहो! हम ज्ञाता-दृष्टा हैं, ऐसा हमें वर्तता है। पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि तो कहते हैं न? कि हमको भेदज्ञानियों के प्रति... वीतरागता बहुत ऊँची है न! राग नहीं और अज्ञानियों के प्रति द्वेष नहीं। हम तो हमारे चैतन्यस्वभाव ज्ञायकनिधि में स्थित हैं। हमारे दोनों के प्रति समभाव है। इसीलिए पहले ज्ञातादृष्टापने निर्णय करके फिर जो विकल्प उठता है जरा, वहाँ कहते हैं कि हे प्रभु! आपको तो हमारे सब जीवों के प्रति वात्सल्य है, हों! आपके सब पुत्र हैं।

कहो, एक ओर कहते हैं, समन्तभद्राचार्य कहते हैं, प्रभु! आपको सब वन्दन करेंगे, हों! परन्तु अभव्य वन्दन नहीं करेंगे। केवलचन्दजी! समन्तभद्राचार्य। सब वन्दन करेंगे प्रभु! परन्तु वे अभव्य नहीं नमेंगे। क्योंकि उन्हें अन्दर में गाँठ है, राग और पुण्य का विकल्प और देह की क्रिया, वह मेरी क्रिया है और शुभराग उत्पन्न होता है, वह मेरा साधन है तथा हितकर मानकर बाँथ भरकर राग में भरा है, वह शुभराग बाँथ भरकर भरा है। वह राग तोड़े ऐसा वीतराग के प्रति उसे प्रीति और रुचि होगी नहीं। बाहर से भले ऐसे-ऐसे, ऐसे-ऐसे करे, अन्दर में वह नमेगा नहीं। समझ में आया? समझ में आया इसमें? केवलचन्दभाई! देखो! यह वीतरागमार्ग क्या है, यह भक्ति में जरा कहा जाता है। आहाहा! गजब बात, भाई!

सकल जीव के प्रति वात्सल्य धारण करनेवाले... सभी जीव। अभव्य के प्रति भी... परन्तु वे नमते नहीं न? आप वीतराग हो न! सर्वज्ञपद में सब जाना। उनकी दशा ऐसी है, इनकी दशा ऐसी है, यह आप सब जाननेवाले हैं। हम तो कहते हैं कि सकल जीव के वात्सल्य आप हो, ऐसा ही हमें भासित होता है। हमको यह भासित होता है। हमको सर्वज्ञपद के प्रति प्रेम उल्लसित होता है और सर्वज्ञ सबके जाननेवाले

हैं। इस अपेक्षा से वात्सल्य करनेवाले हैं, तो हम भी कहते हैं प्रभु! आप सर्व के वात्सल्य करनेवाले हो। हमें किसी के प्रति द्वेष या राग नहीं है। अस्थिरता का जरा आता है, उसे निकाल डालकर कहते हैं, प्रभु! आप तो सर्व के वात्सल्य करनेवाले हो, मैं भी ऐसा ही हूँ, लो! वजुभाई! क्या होगा यह?

अब कहते हैं। वहाँ वात्सल्य करनेवाले लिये। अब अन्दर लिया, भाई! **निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान...** निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान हो, प्रभु! निधान तो लक्ष्मी निधान है। लक्ष्मी को भी परखनेवाला कौन? चैतन्य लक्ष्मी। जो कुछ भी पदार्थ की मुख्यता में ज्ञानस्वरूप भगवान न हो तो यह क्या है? यह क्या है? उसे जाने कौन? मैं इस आत्मा में, हे नाथ! आपको निर्मल गुणरूपी रत्न की निधि है। लो, यह निधि— तुम्हारी लक्ष्मी और यह तुम्हारी पूँजी। ऐसा नहीं कहा, प्रभु! इस जगत में तुमने कुछ राग किया और पुण्य बाँधा और तीर्थंकरगोत्र बाँधा, वह सब तुम्हारी निधि और निधान है। नहीं (कहा)। समझ में आया? आपने तो तीर्थंकरगोत्र बाँधा। आहाहा! समवसरण -धर्मसभा, इन्द्रों की उपस्थिति, सिंह और बाघ जहाँ नमन करे। केशरिया सिंह हो। जिसे देखकर हिरण को त्रास (हो), ऐसे सिंह भगवान को देखकर ऐसे नमन करते हैं। बाघ दहाड़ मारते हुए बाहर से आते हों। यहाँ आवे वहाँ ओहो! प्रभु! आपको ऐसे नमन करनेवाले, ऐसे वात्सल्य करनेवाले; इसलिए आप तो महा निधान, दुनिया भक्ति करे, इसलिए पुण्य के निधान हो। ऐसा है? नहीं। आप तो गुण के निधान हो। ऐसा कहकर मैं भी अनन्त चैतन्य रत्न। देखो! अपने सवेरे शक्ति का वर्णन आयेगा। वे शक्तियाँ अर्थात् गुण। गुण, उन रत्नों का निधान आत्मा। उसे पहचानो और उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना। इसमें यह कहते हैं कि प्रभु! मैं भी ऐसा हूँ, इसमें साथ में आ जाता है।

मेरे आत्मपदार्थ में, दया, दान, विकल्प उठता है, वह कहीं मेरा निधान नहीं है, मेरी लक्ष्मी नहीं है, मेरे स्वरूप में जो (नहीं है), वह तो आगन्तुक मेहमान है। वह मेहमान कहीं घर के मालिक नहीं होते। अन्दर घर में चैतन्य प्रभु एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त गुणों का निधान भगवान आप हो, हों! भगवान! आप अनन्त गुण के निधान हो। अरे! किस दृष्टि से तूने देखा? समझ में आया? किस दृष्टि से देखा? प्रभु! यह आत्मा अनन्त गुण का निधान है न मेरा, इस दृष्टि से आपको व्यक्तरूप से पूर्ण देखा। समझ में आया या नहीं इसमें?

निर्मल गुणरूपी रत्नों के निधान, ऐसे हे नाथ! नाथ! नाथ किसे कहते हैं? प्राप्त चीज़ का रक्षण करे और अप्राप्त को प्राप्त करावे, दे। पत्नी का पति नाथ कहलाता है न? अथवा प्रजा का राजा नाथ कहलाता है। क्यों? प्रजा को दु:ख हो, उसे मिटावे और सुख की सामग्री हो, उसे घटने नहीं दे। ऐसे पत्नी का पति नाथ कहलाता है। उसे प्राप्त चीज़ की हीनता न होने दे और न प्राप्त हुई हो उसे दे। वह तो पुण्य होवे तो दे और मिले, वह यहाँ बात (नहीं है), अभी तो दृष्टान्त है।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा... धन्नालालजी! समझ में आया? यह भक्ति, यह भक्ति। समझकर, इसका नाम भक्ति है। अरे! भगवान! बापू! जहाँ निश्चय की भक्ति शक्ति की प्रगटी है, वहाँ उसे परमात्मा की व्यवहार भक्ति का विकल्प उसे मुख्य नहीं करता और मुख्य करता है स्वभाव को। उसे व्यवहार भक्ति पुण्य की कहने में आती है। जाओ, ऐसा करना और ऐसा करना... ऐसा करते-करते ऐसा हो जाएगा। भगवान की पूजा करे और भक्ति करे और भगवान की श्रद्धा है। नहीं, यहाँ कहते हैं, भगवान की श्रद्धा नहीं है। भगवान अर्थात् आत्मा महिमावन्त, जिसके एक-एक गुण की कली शक्तिरूप से पूर्ण पड़ी है और पूर्ण का अर्थ ही शक्ति है, इसलिए उसमें मर्यादा क्या? ऐसे पूर्ण कली से स्थित प्रभु, उसे उसकी एकाग्रता से विकसित करना, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान का जहाँ धर्म का भान नहीं, वह भगवान की भक्ति व्यवहार से भी नहीं कर सकता। कहो, समझ में आया?

आप इस लोक में सदा जयवन्त रहो। क्या कहते हैं? प्रभु! इस लोक में जयवन्त रहो, नाथ! समझ में आया? आटा माँगने आते थे न ब्राह्मण? वे ऐसा बोलते थे। लक्ष्मी को वे क्या कुछ बोलते। महालक्ष्मी प्रसन्न। महालक्ष्मी प्रसन्न। क्यों वजुभाई! छोटी उम्र में सब देखो हुआ हो न!

मुमुक्षु : इसके बिना महिलाएँ आटा किसका दें?

पूज्य गुरुदेवश्री : महिलाएँ आटा न हो तो ऐसा कहे कि आज आटा बहुत है। हो रहा हो न आटा। आटा नहीं है, ऐसा नहीं कहे। क्योंकि आटा नहीं है तब तो हो गया। गरीब हो जाएँगे, अपन रंक हो जाएँगे। अब आटा नहीं है, ऐसा कहने में रंक क्या? वह तो भाषा उसे समझाने की थी। आज आटा बहुत है। बहुत है अर्थात्? जगत की भाषा ही उल्टी है।

यहाँ तो आटा भरा है आत्मा में, कहते हैं, सकलगुण का निधान भगवान आत्मा जयवन्त रहो। तुम्हारे श्रद्धा-ज्ञान और चतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे ऐसे के ऐसे रहो। वे तो रहने के ही हैं। वे कहीं इसके कहने से रहनेवाले हैं? परन्तु कहनेवाले को इस चैतन्य ध्रुव चिदानन्द मूर्ति ध्रुव की दृष्टि होने पर जो ध्येय पकड़ में आया है, उसके अनन्त गुण ऐसे के ऐसे पड़े हैं। उसे श्रद्धा-ज्ञान द्वारा कहते हैं कि जयवन्त रहो। अर्थात् प्रगट दशा का परिणमन सदा चालू रहो, अतः भगवान को भी कहते हैं कि सदा जयवन्त रहो। कहो, समझ में आया? लो, यह नाथ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो प्राप्ति धर्मी को स्वयं की हुई हो, उतनी भगवान की वाणी और उसका श्रवण-मनन-चिन्तवन, वह तो विकल्प है परन्तु स्वभाव के साधन की ओर जो जाता है, उसे उतना तो अब घटने का नहीं है और भगवान का स्मरण स्वरूप अर्थात् परमात्मा स्वयं ही है ऐसा।

केवली की स्तुति किसे कहना, ऐसा कहा न? समयसार में शिष्य ने पूछा— प्रभु! केवली की स्तुति किसे कहना? सर्वज्ञ भगवान की स्तुति किसे कहना? ३१वीं (गाथा) **'जो इंदिये जिणित्ता णाणसहाधियं मुणदि आदं'** गुरु को शिष्य ने प्रश्न किया, भगवान केवलज्ञान की स्तुति किसे कहना?

तब कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं, भाई! केवली की स्तुति उसे कहते हैं कि केवलज्ञान भण्डार अन्दर पड़ा है, उसकी ओर दृष्टि करने पर उसे पाँच इन्द्रिय के विषय, पाँच इन्द्रियाँ जड़ और भावेन्द्रिय अर्थात् एक-एक इन्द्रिय का अंश एक विषय को जाननेमात्र जो खण्ड-खण्ड है, उन सबको मिटाकर—रुचि छोड़कर अखण्ड चैतन्य असंज्ञी पदार्थ में दृष्टि करनेवाला, उसे हम केवलज्ञान की स्तुति कहते हैं। भगवान! परन्तु आपको पूछा हमने कुछ और जवाब कुछ? वजुभाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : पूछा था केवली की स्तुति कैसे करना? परन्तु उसका अर्थ प्रभु! तू एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में गुण का निधान चैतन्य शक्ति सत्व, स्वभाव ध्रुवता जो है, उसे अन्तर की अधिकता में न लेकर तथा राग और अल्पज्ञता और निमित्त को अधिकता दे, तब तक वह केवली की स्तुति करनेवाला कहने में नहीं आता। समझ

में आया इसमें कुछ ? ....भाई ! अधिकता लक्ष्मी को दे, स्त्री को दे, पुत्र को, अरे ! पुण्य के परिणाम को अन्दर अधिकरूप माने। यह बहुत किया, भारी किया... भारी किया... दया, दान, व्रत, जप, तप का विकल्प उठा, वह मैंने बहुत किया। उसे अधिक माननेवाला चैतन्य के स्वभाव को हीन... हीन, दरिद्र और कमजोर माननेवाला इस भगवान का शत्रु है। उसे केवली की स्तुति करना नहीं आता। समझ में आया ? धन्नालालजी !

मुमुक्षु : भगवान का शत्रु...

पूज्य गुरुदेवश्री : शत्रु है। उसे अधिक बनाया, उसे अधिक बनाया—राग को अधिक बनाया, विशेष बनाया। निमित्त को अधिक बनाया न ? चैतन्यमूर्ति एक समय में ज्ञायकमूर्ति प्रभु है, उसे अधिक श्रद्धा-ज्ञान में बनाता नहीं (तो तू) भगवान का-केवली का शत्रु है। स्तुति करनेवाला, अपना स्वभाव एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में, जो सकल गुण रहा पहले कहा था न ? ऐसा निधान तू और मैं दोनों। ऐसे अपने सकल गुण का धारक भगवान, उसके प्रति...

अपनी शक्ति सत्त्व अर्थात् कि वस्तुरूप से पूरी वस्तुरूप से उसमें वास—बसी हुई शक्तियाँ और गुण, उनके के धारक आत्मा के प्रति जिसे अधिकता की, महत्ता की महिमा, महत्ता की प्रियता नहीं आती और देहादि की क्रिया और पुण्य परिणाम की अधिकता और प्रियता आती है, वह भगवान का पक्का शत्रु है। उसे भगवान की भक्ति करना नहीं आती।

यहाँ यह कहा है न ? हे प्रभु ! आप तो नाथ हो न ! हमारे साधक स्वभाव की जो श्रद्धा, उसकी हम रक्षा करनेवाले, आप रक्षा करनेवाले। और बढ़कर हमारे पास चारित्र की, शान्ति की, आनन्द की पूर्णता नहीं, उस पूर्णता में आप निमित्त हो; इसलिए हमारी पूर्णता के नाथ ही आप हो। हमारे साधक के नाथ अर्थात् उसे न्यूनता और हीनता होने दे (नहीं)। वापस गिरने की बात नहीं, ऐसा कहते हैं। ओहोहो ! वापस गिरना, अर्थात् समझ में आया ? वे पूछते हैं न कि यह समकित पाकर गिर जाए या नहीं ? सुन न ! पहले से गिरना गिरना लगाया तूने ? नेमिदासभाई ! तुझे अधिकता किसकी भासित हुई कि जिसकी महत्ता छोड़कर इसमें नीचे आ जाऊँ तो ? नीचे आ जाऊँ तो ? दूसरे की महत्ता करूँ तो ऐसा होगा या नहीं ? तो फिर तुझे वर्तमान ज्ञान और आनन्द ऐसे

ध्रुवस्वभाव की महत्ता और महिमा और अधिकता दृष्टि में नहीं आती। गिरा ही है। अब गिरा है, उसे गिरेगा या नहीं, यह प्रश्न कहाँ है ? समझ में आया ?

यहाँ आचार्य कहते हैं, हे नाथ! पहली लाईन में ही उठाया है न पूरा। मुनि थे, भावलिंगी सन्त थे। जंगल में ताड़पत्र पर ये श्लोक उत्कीर्ण हो गये। ताड़पत्र पर, हों! देखो, यह भक्ति, यह भान, यह सेवक, यह दास, स्वामी भगवान व्यवहार से; निश्चय से सहजात्मस्वरूप स्वयं स्वामी, भानपूर्वक की भक्ति को वास्तविक व्यवहार से भक्ति कहा जाता है। वह व्यवहार से वास्तविक, ऐसा।

हे नाथ! आप इस लोक में जयवन्त रहो। हमारे स्वरूप में मदद करने, सहारा देने में निमित्तरूप जो कहा है, वह सदा ही रहो। हमारे लक्ष्य की डोरी में से आप हटना नहीं। हमारे लक्ष्य के बाण में से आप हटना नहीं। हमारा ध्येय परमात्मा के प्रति है अर्थात् कि हमारी पूर्ण दशा प्रगट होने के प्रति हमारा लक्ष्य है। इसलिए यह परमात्मा पूर्ण हमारे लक्ष्य में से प्रभु! यह हटना नहीं। हमारे हृदय में से जाना नहीं, ऐसा कहते हैं, लो! हमारे हृदय में से जाना नहीं। सदा जयवन्त रहो। ऐसा कहकर आत्मा की स्तुति-भक्ति के वर्णन में भगवान की भक्ति का वर्णन किया है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)